



विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/निःशुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujain@gmail.com

vikramadityashodhpeth@gmail.com

Web : www.mvspujain.com

प्राचीन भारत में विदेशी आगंतुक

रितु मिश्र

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

प्राचीन भारत में विदेशी
आगंतुक
रितु मिश्र

पृष्ठ क्र. 3-4

वृहत्तर भारत और संस्कृति
ईशान अवरस्थी

पृष्ठ क्र. 5-6

उपासना पद्धतियों के
विभिन्न स्वरूप
सुरेश कुमार

पृष्ठ क्र. 7

भारत का प्रारंभिक लौह
धातुधर्म
मिथिलेश यादव

पृष्ठ क्र. 8

मालव माटी की सौँधी
सुगंध हैं ये लोक गाथाएँ
डॉ. प्रद्युम्न भट्ट

साहित्यिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों और पुरातात्विक सामग्री के अतिरिक्त भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर प्रकाश डालने वाली अन्य महत्वपूर्ण सामग्री उन विदेशी यात्रियों के भ्रमण-वृत्तान्तों के रूप में भी सुरक्षित हैं, जिन्होंने आँखों देखी परिस्थितियों के आधार पर अपने अनुभवों तथा भारतीयों द्वारा मौखिक रूप में सुरक्षित घटनाओं का विश्लेषण कर उन्हें अपनी लेखनी में उतारा है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही अनेक प्रकार की आश्चर्यजनक आचार-व्यवहार की परंपराओं और रीति-नीतियों एवं विचित्रों की जिज्ञासा से अनेक देशों के लोग समय-समय पर यहाँ आये। देश के विभिन्न स्थलों का भ्रमण कर यहाँ के जनजीवन में उन्हें जो उपादेय तथा ग्राह्य अनुभव हुआ उसको उन्होंने लिपिबद्ध किया। इस प्रकार विदेशियों के यह वृत्तांत तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक जीवन की यथार्थताओं और परंपराओं का ज्ञान प्राप्त करने में आधुनिक इतिहासकारों के प्रेरणा स्रोत बने। इस प्रकार भारत आने वाले पर्यटक विद्वान यूनान, रोम, चीन, तिब्बत और अरब आदि विभिन्न देशों से सम्बद्ध थे। इनके द्वारा संग्रहीत भारतीय ज्ञान संबंधी कुछ तथ्य तो उनकी कृतियों के साथ ही अतीत को भेंट हो गये किंतु जो सुरक्षित रह पाये हैं उनका अनेक दृष्टि से बड़ा महत्व है। प्राचीन भारत के यूनान और चीन से पारस्परिक सम्बन्ध बड़े घनिष्ठ तथा दीर्घकालीन रहे हैं। इन दोनों देशों के यात्री यद्यपि विभिन्न उद्देश्यों से भारत आये किन्तु उनमें से कुछ के ही संस्मरण-अनुभव उल्लेखनीय हैं। प्राचीन काल में जिन अनेक यूनानी पर्यटकों ने भारत भूमि का भ्रमण किया, उनमें से स्काइलैक्स का नाम अग्रणी है। यह यूनानी फारस के शासक दारा प्रथम का सैनिक था। दारा ने उसे प्रागैतिहासिक सिन्धु घाटी के संबंध में पता लगाने के लिए भारत भेजा था। उसके परवर्ती लेखक उसकी खोजों के जो तथ्य सुरक्षित रख पाये हैं, उनसे सिन्धु घाटी के संबंध में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। उसके विवरणों के आधार पर दूसरे यूनानी लेखक हिकेटिअस मिलेटस (549-496 ई.पू.) ने सिन्धु घाटी की कुछ भौगोलिक स्थितियों के संबंध में प्रकाश डाला है। किन्तु इन यूनानियों की खोजों के जो उद्धरण अन्य ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं, उनसे स्पष्टतः पता चलता है कि वे भारत के प्राचीन इतिहास की कोई विशेष जानकारी देने में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुये। प्राचीन भारत के संबंध में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण नयी जानकारी देने का श्रेय तीसरे यूनानी इतिहासकार हेरोदोतस (484-425 ई.पू.) को है। उसने उत्तर-पश्चिम स्थित सीमाप्रान्त (भारत) और हरबमी (ईरान) के साम्राज्यों से राजनीतिक सम्पर्क स्थापित कर वहाँ की जातियों के संबंध में अपने विचार प्रकट किये। किन्तु उसके ये ऐतिहासिक वृत्त उसके द्वारा प्रत्यक्षानुभूत न होकर इतरेतर साधनों पर अवलम्बित हैं, जिससे उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। इस सन्दर्भ में यूनान के प्राचीन इतिहासकार केंसिअस (416-398 ई.पू.) का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उसने प्राचीन भारत के संबंध में अधिकाधिक और प्रामाणिक सूचनाएँ देने का यथासाध्य प्रयत्न किया है। वह फारस के राजा अजि रेक्सस मेमन की राजसभा का राजवैद्य था। इस इतिहास-बुद्धि व्यक्ति ने फारस आये भारतीयों और भारत से लौटे फारसी व्यापारियों से सम्पर्क स्थापित कर उनसे भारत के विषय में बहुविध जानकारी प्राप्त की थी। भारत संबंधी जिन तथ्यों को पुस्तकाकार रूप में उसने एकत्र किया उसका नाम इण्डिका रखा। यद्यपि उसके विवरण परानुभव-जन्य थे और इसलिए उनकी सत्यता सर्वथा असन्दिग्ध नहीं थी, तथापि भारत के इतिहास को पुस्तकबद्ध करने वाले देशियों में उसका स्थान अविस्मरणीय है। प्राचीन भारत पर अपेक्षया विस्तृत जानकारी देने वाली उसकी उक्त पुस्तक सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य पुस्तकों में उसके उद्धरण मात्र देखने को मिलते हैं। उसने

ईरान पर भी एक इतिहास—ग्रन्थ 'पर्शिका' के नाम से लिखा था। प्राचीन भारत की प्रामाणिक तथा विस्तृत इतिहास—सामग्री के स्रोत उन इतिहासकार विद्वानों के उपलब्ध वृत्तान्त हैं, जिन्हें महान् विजेता सिकन्दर (400 ई.पू.) अपने साथ भारत लाया था। जिन मार्गों से होकर सिकन्दर ने भारत में प्रवेश किया और जिस कौशल तथा पराक्रम से उसने अपने आक्रमणों की सफल बनाया उसका सविस्तार वर्णन उसके सैनिक पदों पर नियुक्त कुछ विद्वान व्यक्तियों ने किया। यदि उन्होंने अपने प्रत्यक्ष दृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध न किया होता तो सिकन्दर के भारत—आक्रमण की जानकारी देने के लिए अन्य कोई साधन नहीं थे। यद्यपि पूर्ववर्ती इतिहासकारों की मूल कृतियों की भाँति सिकन्दर के इन सहयोगी लेखकों के क्रमबद्ध वृत्तान्त विलुप्त हो गये, किन्तु परवर्ती इतिहासकारों स्ट्रैबो, प्लिनी, एरियन और प्लूतार्च के ग्रन्थों में उनके उद्धरण आज भी सुरक्षित हैं।

सिकन्दर के बाद भारत आने वाले विद्वान इतिहासकारों एवं खोजियों में मेगास्थनीज का नाम प्रमुख है। वह प्रसिद्ध यूनानी सीरिया के सम्राट् सेल्यूकस का राजदूत था और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय (321—297 ई.पू.) भारत आया था। भारत के अनेक स्थलों का भ्रमण और वहाँ की परम्पराओं का अध्ययन कर उसने भारत के तत्कालीन जन—जीवन तथा उसकी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत पर इण्डिका नाम से एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी, जो कि सम्प्रति मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसके लम्बे अवतरण एरियन, स्ट्रैबो तथा जस्टिन आदि इतिहासकारों की पुस्तकों में सुरक्षित हैं।

भारत के प्राचीन इतिहास और भूगोल की जानकारी देने वाले विद्वानों में यूनानवासियों के बाद चीनी इतिहासकारों का नाम मुख्य है। बौद्धधर्म का उद्गम स्थल भारत उनकी प्रेरणा का मुख्य केन्द्र रहा है। इतिहास के उन प्रचुर तथ्यों को विस्मृत नहीं किया जा सकता है, जो भारत और चीन की मूलभूत एकता के साक्ष्य हैं। बौद्धधर्म के माध्यम से दोनों देशों के पारस्परिक संबंध इस रूप में एकाकार हो गये कि उनके अतीत के कई सौ वर्षों तक के इतिहास को अलग करके देखा ही नहीं जा सकता है। भारत के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाले चीनी विद्वानों में भारत के सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि में शु—ना—चिन का नाम अग्रणी है। न केवल भारतीय, अपितु चीनी इतिहास लिखने वाला यह प्रथम विद्वान् था। उसका समय ईसा की प्रथम शती पूर्व या प्रथम सदी के लगभग था। उसकी भारत—विषयक ऐतिहासिक सामग्री मौलिक और निर्भ्रान्त प्राचीन भारत के इतिहास में चीनी बौद्ध परिव्राजक फाहियान (399—414 ई.), ह्वैन—त्सांग (629—645 ई.) और इत्सिंग (673—695 ई.) का नाम लगभग एकाकार हो गया है। यूनानी इतिहासकारों से यदि उनके विवरणों की तुलना की जाये तो दोनों में बहुत अन्तर देखने को मिलता है। इन चीनी यात्रियों ने अपने—अपने समय के भारत के धर्म, शासन तथा जन—जीवन के वास्तविक चित्र अपने विवरणों में प्रस्तुत किये हैं। अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से उनकी सत्यता सिद्ध हो चुकी है।



प्रथम चीनी यात्री फाहियान गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल (375—414 ई.) में 399 ई. में भारत आया था। वह लगभग सोलह वर्षों तक भारत में रहा। उसने भारत के विभिन्न बौद्ध—तीर्थों और ऐतिहासिक स्थानों का भ्रमण किया। उसका प्रमुख उद्देश्य यद्यपि बौद्ध—साहित्य का अध्ययन करना था। किन्तु उसके साथ—साथ उसने भारतीय जन—जीवन और तत्कालीन संस्कृति पर भी प्रामाणिक प्रकाश डाला है।

ह्वैन—त्सांग का जन्म सम्प्रान्त विद्वत्वंश में हुआ था, जो कि बड़ा धर्मप्राण था। इन दोनों गुणों का उसके जीवन में समन्वय था। सात्विक वातावरण में रहकर ह्वैन—त्सांग का विद्यानुराग निरन्तर बढ़ता गया। वह देशाटन के लिए निकला और चीन की ही भाँति बाहर भी बौद्धधर्म की महानताओं से प्रभावित होकर वह बौद्ध भिक्षु बन गया। फिर उसने बौद्धधर्म पर ही चिंतन आरम्भ कर दिया। कठिन तथा दुर्गम मार्ग को तयकर उसने 629 ई. को भारत में प्रवेश किया। भारत आकर ह्वैन—त्सांग ने भारतीय विद्वानों से (नालन्दा विश्वविद्यालय में) मूल बौद्ध—ग्रन्थों का संस्कृत में अध्ययन किया। उसने 15 वर्षों तक भारत के सभी धार्मिक, शैक्षिक और ऐतिहासिक स्थलों का भ्रमण किया तथा बौद्ध विहारों के दर्शन भी किये। आधुनिक पाश्चात्य इतिहासकार विन्सेण्ट स्मिथ का कहना है कि जब ह्वैन—त्सांग चीन लौटा तो 20 घोड़ों की पीठ पर भारत से सहस्रों हस्तलिखित ग्रन्थ लाद कर ले गया था। ह्वैन—त्सांग के भारत भ्रमण वृत्तान्तों के अतिरिक्त भारत विषयक चीनी विद्वानों की कृतियों में हुई—ली की पुस्तक शह्वैन—त्सांग की जीवनी भी इस दृष्टि से उपयोगी है।

वृहत्तर भारत और संस्कृति

ईशान अवस्थी

द्वीपान्तर में भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार की वस्तुस्थिति का भी एक अनूठा इतिहास है। संस्कृत साहित्य की विभिन्न कृतियों, इतिहास पुरातत्व विषयक सामग्री और कला-वस्तुओं के आधार पर ज्ञात होता है कि भारत की भौगोलिक सीमाएँ प्राचीन काल में इससे कहीं अधिक विस्तृत थीं। अनेक इतिहासकारों एवं पुरातत्ववेत्ताओं ने प्राचीन भारत के इस वृहत्तर रूप पर प्रकाश डाला है। भारत का यह वृहत्तर रूप सुमात्रा (सुवर्ण द्वीप या सुवर्ण भूमि), मलय, जावा, बर्मा, श्रीलंका, मलाया, बोर्नियो, बाली तथा अनाम (चम्पा), कम्बोडिया और हिन्द-चीन, नेपाल, तिब्बत, ईरानी, ईराक, मिस्र, चीन, जापान आदि देशों तथा सीमान्तों तक फैला हुआ था। साहित्य, धर्म, व्यापार, शासन, भाषा, लिपि और आचार-विचार आदि विभिन्न उद्देश्यों एवं प्रयोजनों से प्राचीन भारत के उक्त देशों से घनिष्ठ एवं स्थायी संबंध थे। इन संबंधों की व्याख्या से द्वीपान्तर में व्याप्त वृहत्तर भारत की संस्कृति पर विशेष प्रकाश पड़ता है। द्वीपान्तर उन देशों का समूह है, जहाँ भारतीय उपनिवेश स्थापित थे। वे उपनिवेश भारतीय सम्राटों के अन्तर्गत रहते हुए भी स्वतन्त्र शासकों द्वारा शासित एवं संचालित होते थे। किन्तु भारतीय साम्राज्य के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने के लिए उन्हें कर या भेंट स्वरूप कुछ निश्चित धनराशि निर्धारित समय के अन्तर्गत भारत को भेंट करनी होती थी। इस प्रकार वे भारत के प्रति अपनी निष्ठा तथा अपने प्रगत करते थे। दोनों ओर पानी से घिरे हुए भू भाग को 'द्वीप' कहा गया है। पुराणों में नौ द्वीपों (नव द्वीप) का उल्लेख हुआ है, जिन्हें द्वीपान्तर भारत भी कहा गया है। ये नवद्वीप हैं—1. इन्द्रद्वीप (वर्मा), 2. कसेरुमत, 3. ताम्रपर्ण (ताम्रपर्णी), 4. गभस्तिमत, 5. नागद्वीप (निकोबार), 6. कटाह (केटह), 7. सिंहल (श्रीलंका), 8. वरुणा या और 9. कुमार। इन पुराण-प्रोक्त द्वीपों में अधिकतर का कोई पता ही नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत अंगद्वीप में और स्थलमार्ग दोनों से सम्पन्न होती थी। द्वीपान्तरों से भारत आनेवाले चीनी यात्रियों ने भी उल्लेख किया है। 7वीं शती में चीनी यात्री भरत-आते हुए लगभग छह माह तक सुमात्रा में रुका था। वही उसने संस्कृत का अध्ययन किया। अपने यात्रा वृत्तान्त में उसने लिखा है कि जावा, बानिय कुनलुन और बाली आदि देशों में भारतीय उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन



के अतिरिक्त भारतीय आचार-विचार और धार्मिक देश वृहत्तर भारत के अन्तर्गत परिगणित होने लगे परम्पराएँ प्रचलित थी। इन कारणों से मलय, कम्बोडिया और इण्डोनेशिया आदि देश वृहत्तर भारत के अन्तर्गत परिगणित होने लगे थे। प्राचीन काल से ही भारतीयों में बाहरी देशों में जाने में उत्सुकता जान चुकी थी। धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रयोजनों से जलमार्गीय तथा स्थलमार्गीय साहसिक यात्राएँ करके वे बाहरी द्वीपान्तरों में प्रविष्ट होकर वहीं बस गये। उनमें क्षत्रिय, सामन्त, ब्राह्मण-पुजारी, बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी और वैश्य व्यापारी प्रमुख थे। पुराण, जातक, वृहत्कथा और मिलिक पत्र में विदेशों में स्थापित भारतीय उपनिवेशों के विषय में बड़ा सुन्दर वर्णन है। कालिदास ने भी रघुवंश में पूर्वी द्वीपान्तरों का उल्लेख किया है। चीनी और जावाई परम्पराओं तथा इतिहास में भी द्वीपान्तरों में ऐसे भारतीय उपनिवेशों का विस्तार से वर्णन किया गया है। भारतीय इतिहास में ऋषि परशुराम अपने ओजस्वी व्यक्तित्व एवं दृढ संकल्प के लिए प्रसिद्ध हैं। भारत से बाहर आर्य संस्कृति के प्रसार में ऋषि अगस्त्य के बाद उन्हीं का दूसरा उल्लेखनीय नाम है। उन्होंने नर्मदा घाटी और सुदूर अरब सागर के तट पर आर्य बस्तियों को बसाया और वहीं से भारतीय संस्कृति को द्वीपान्तरों में प्रसारित करने का अभियान चलाया तथा ऋषि परशुराम की परम्परा को सातवाहन शासकों ने उजागर किया। इन पूर्वी द्वीपान्तरों के लिए बंगाल की खाड़ी के धनकटक, मसुलिपत्तन कोनारक बन्दरगाहों से अरब सागर पार के वैजयन्ती (गोवा) और कल्याणी के बन्दरगाहों तक जलमार्ग द्वारा गमनागमन की सुव्यवस्था का आरम्भ दक्षिण के आन्ध्र सातवाहनों के शासनकाल (लगभग दूसरी शती ई.पू.) में हुआ। वृहत्कथा समुद्री यात्राओं का उल्लेख हुआ है। इन सन्दर्भों में सुवर्ण सिंहल तथा कर्पूर आदि द्वीपान्तरों के नाम इस धारणा की पुष्टि के सुदृढ़ प्रमाण हैं कि सातवाहनों के शासनकाल में भारत के दक्षिण-पूर्वी द्वीपान्तरों के साथ समुद्री मार्गों द्वारा संबंध स्थापित हो चुके थे। भारत में सातवाहन साम्राज्य के अन्तिम समय, अर्थात् ईसा की लगभग दूसरी शती के आरम्भ में शक, पहलव, चोल और पाण्ड्य आदि के आक्रमणों तथा उनके पारस्परिक संघर्षों के फलस्वरूप भारत में राजनीतिक तथा आर्थिक उथल-पुथल की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। इस कारण भी कई भारतीय बाहरी



देशों में फैल गये। मलय, कम्बोडिया, सुमात्रा, जावा और बाली आदि द्वीपान्तरों में ईसा की दूसरी या तीसरी शती में इस वर्ग के लोगों ने उपनिवेशों की स्थापना की। यद्यपि शासन में उनका प्रमुख स्थान नहीं था, किन्तु वे भारतीय संस्कृति की स्थापना तथा उत्तरोत्तर उन्नति में बड़े सक्रिय रहे। द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति, कला और धर्म की महान एवं विशाल थाती को प्रचारित-प्रसारित करने में भारतीय ज्ञान-ग्रन्थों एवं ज्ञान-प्रवण सन्तों, महात्माओं का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा है। जिन भारतीय ग्रन्थों के उच्चादर्श विभिन्न कलाओं में रूपायित होकर एशिया के विशाल भू-खण्ड में भारतीय संस्कृति के वाहक बने, उनमें रामायण तथा महाभारत महाकाव्य, जातक, पुराण, आगम, तन्त्र, सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञापारमिता, ललितविस्तार, श्रद्धोत्पाद द्विव्यावदान, अभिधर्मकोश, सूत्रालंकार और बुद्धचरित का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुषाण साम्राज्य (प्रथम शती ई.) में सद्धर्मपुण्डरीक की रचना हुई और तीसरी शती ई. के अन्त में उसका चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। धर्म तथा दर्शन का अद्भुत समन्वय के लिए इस ग्रन्थ पर भगवद्गीता का व्यापक प्रभाव है। उसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि आधे एशिया में उसने बौद्ध बाइबिल जैसा दर्जा प्राप्त कर लिया। भारतीय उच्चादर्शों, शान्ति, सद्भाव और एकता की सार्वभौम स्थापना करके जिन बौद्ध-ग्रन्थों ने कला-माध्यम में परिभण्डित होकर विस्तृत भू-खण्ड पर अपना एकाधिकार स्थापित किया, उनमें अश्वघोष का बुद्धचरित और आर्यशूर की 'जातकमाला' का नाम भी उल्लेखनीय है। उनके उच्चादर्श एवं महान सन्देश पहले तो अजन्ता में उभरे और फिर एशिया के भू-भाग की कला पर छा गये। इन बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत और अनेक पुराणों द्वारा भी भारतीय संस्कृति तथा कला का एशिया में प्रचार-प्रसार हुआ। इसका मुख्य श्रेय गुप्त सम्राटों को है। शक्ति सम्पन्न एवं सहिष्णु गुप्त शासकों ने एक ओर तो भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अपने प्रभाव को बढ़ाने में प्रयत्नशील शकों, यवनों, कुषाणों, हूणों और पल्लवों के अस्तित्व को आहत करके वृहद भारत में एकाधिकार सम्पन्न साम्राज्य की स्थापना की तथा राष्ट्र-रक्षा के कार्यों को सुदृढ़ समय भारतीय धर्म, दर्शन तथा संस्कृति का सन्देश विद्वानों तथा कला के प्रचार-प्रसार के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण किया। उनके भिक्षुओं द्वारा सुवर्णदीप चम्पा, ताम्रलिप्ति द्वारावती और पनपन आदि प्रायद्वीपों में पहुँचा तथा यहाँ हिंदू उपनिवेशों की स्थापना हुई। इन देशों के अतिरिक्त इंडोनेशिया, तिब्बत, नेपाल, मंगोलिया और चीन आदि देशों में भी गुप्तों के सांस्कृतिक तथा कलात्मक उच्चादर्श प्रसारित हुए। गुप्तों ने जिस भूमिका का निर्माण किया उसको गुणवर्मन् (423 ई.), शान्तरक्षित (हवी शती), वज्रबोधि (711 ई.), कुमारघोष (782 ई.) और दीपकरश्रीन (1011 ई.) जैसे विद्वान् भिक्षुओं द्वारा जावा से कम्बोडिया और वर्मा से बाली तक समस्त दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में ब्राह्मण, बौद्ध तथा शैव धर्मों का प्रवेश हुआ। उनके प्रवेश एवं प्रभाव के स्थायी स्मारक अनेक मठ, मन्दिर तथा उनमें रूपायित कला की भव्यता आज

भी उनकी गौरवगाथा को सुरक्षित बनाये हैं।

एशिया माइनर एशिया के विभिन्न देशों के साथ भारत के संबंधों की स्थापना ईसा के कई सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। उसके प्रमाण एशिया माइनर के बोगाजकुई नामक स्थान में प्राप्त अभिलेख हैं, जिनका समय विद्वानों ने 1400 ई. पूर्व के लगभग निर्धारित किया है। इन अभिलेखों में खत्ती और मितानी जातियों में हुई पारस्परिक संधि का उल्लेख हुआ है इस संधिपत्र में साक्षी-स्वरूप जिन देवताओं का उल्लेख किया गया है, उनके नाम हैं- मि-इत्-र (मित्र), उ-रु-व-न (वरुण), इन्-दार (इन्द्र) और न-श-अ (त-ति-इअ-अ) नृ-न (नासत्य)। दोनों नासत्य देवताओं सहित इन्द्र, मित्र और वरुण ऋग्वेद के अधिष्ठाता एवं बहुचर्चित देवता हैं। ईरानियों के धर्म ग्रंथ 'अवेस्ता' में भी इन देवताओं को इसी रूप में मान्यता दी गयी है। उक्त अभिलेखों के समय (1400 ई. पूर्व) के कुछ पत्र तल्ल अल्ल अमरना नामक गाँव से प्राप्त हुए हैं। उसमें कुछ मितानी राजाओं के नाम संस्कृत भाषा में उल्लिखित हैं। उदाहरण के लिए आर्ततम, तुषरत और सुतर्तन (सुत्राण) हैं। इसी प्रकार बेबीलोनिया के कस्सी शासकों के नाम सुरिअस् (सूर्य) और मर्तयस् (मरुतम) भी संस्कृतनिष्ठ हैं।

असीरिया के राजा असुर बनीपाल (700 ई. पूर्व के लगभग) के पुस्तकालय से एक सूची प्राप्त हुई है। जिसमें अस्सर-मजस् आदि देवताओं के नाम उल्लिखित हैं। इन नामों की एकता एक ओर तो ईरानियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता में उल्लिखित अहर-मज्द नामों से और दूसरी ओर संस्कृत के 'असुर' शब्द में बैठती है। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि एशिया माइनर के विस्तृत भू-भाग में अति प्राचीनकाल में ही ऋग्वैदिक संस्कृति का प्रभाव व्याप्त हो गया था। और मलय देश (मलेशिया) वहाँ के साहित्य तथा जन-जीवन के साथ भारत के संबंध स्थापित हो चुके थे। वर्तमान मलेशिया प्राचीन काल में मलय देश के नाम से प्रचलित था, यद्यपि इस मलय देश के अन्तर्गत वर्तमान मलेशिया की अपेक्षा बृहत् भू-भाग सम्मिलित था। दक्षिण भारत से लगभग दो हजार मील की दूरी पर अवस्थित प्राचीन मलय देश के अनेक अचलों पर भारतीयों का शासन था। उसके 'मलय' नामकरण से ही भारतीयता का आभास होता है। उसका यह नामकरण, सम्भवतः इस देश में अधिकता से उगने वाले चन्दन के वृक्षों के ही कारण हुआ। एशिया महाद्वीप के विभिन्न स्थानों से प्राप्त अभिलेखों तथा संस्कृत पालि ग्रंथों और चीनी-मलियाई परम्पराओं में मलय को सुवर्ण भूमि के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। वहाँ से उपलब्ध प्राचीन अभिलेखों तथा प्रशस्तियों की भाषा संस्कृत है और उनमें प्रयुक्त लिपि की समानता पाँचवीं शती ई० की उत्तर भारतीय गुप्तलिपि से मिलती-जुलती है। ये अभिलेख स्तम्भों तथा शिलाओं पर उत्कीर्णित हुए मिले हैं और उनका लेखन-प्रकार तथा दान किये जाने आदि का वर्ण्य विषय सर्वथा भारतीय है। बौद्ध-ग्रन्थ श्महावंश में सोम तथा उत्तर द्वारा उपनिवेश स्थापित करने का उल्लेख हुआ है।

उपासना पद्धतियों के विभिन्न स्वरूप

सुरेश कुमार

भारत में उपासना का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन है। न केवल साहित्यिक स्रोतों से, अपितु प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक युगों की उपलब्ध पुरातत्व एवं कला-सामग्री से भी उसकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। सिन्धु संस्कृति के उपलब्ध अवशेषों से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में मातृपूजा का प्रचलन था। उन्हीं के द्वारा बाद में तान्त्रिक पन्थों का उदय हुआ। वैदिक ऋषियों के प्रकृति-पुरुष के रहस्यमय उदगार ही तान्त्रिक धर्म के मूल उद्गम है। उसकी व्यापक तथा गम्भीर भूमिका का निर्माण उपनिषदों तथा दर्शनी में हुआ। उपनिषदों का ब्रह्म-माया-सिद्धान्त और कपिल के सांख्य दर्शन का प्रकृति-पुरुष विवेचन तान्त्रिक धर्म के विकास के परिचायक हैं। उसकी प्रतिष्ठा पुराणों के देवतावाद और विशेष रूप से शक्ति-उपासना के विभिन्न रूपों में हुई। तान्त्रिक उपासना का केन्द्र यही शक्ति-पूजा रही है।



अदिति, पृथ्वी, सरस्वती (इडा, भारती) आदि वैदिक मातृदेवियाँ शक्ति-पूजा की स्रोत रही हैं। ऋग्वेद का 'देवी-सूक्त' वैदिक संस्कृति का केन्द्र रहा है। उसमें वर्णित ब्रह्म और बाक की अभिधेया शक्ति-रूपा मातृकाएँ पौराणिक शक्ति-उपासना का प्रेरणा स्रोत रही हैं। पुराणों की अम्बिका, भवानी, देवी, भद्रकाली, दुर्गा उमा और माहेश्वर आदि देवियाँ वैदिक 'देवी-सूक्त' के ही रूपान्तर हैं। मार्कण्डेय पुराण के 'दुर्गासप्तशती' आख्यान में देवी के जिन विभिन्न नामरूपों गुणों तथा वैभव का व्याख्यान किया गया है, उसके द्वारा पौराणिक तान्त्रिक युग की पूर्ण प्रतिष्ठा का सहज ही पता चलता है। उसके प्रमाण देश के विभिन्न अंचलों में प्रतिष्ठित मन्दिरों, मठों तथा उपाश्रयों की कला-थाती में जीवित हैं। समस्त भारत में व्यापक रूप से उपलब्ध होने वाली तान्त्रिक अभिप्राय की बहुसंख्यक मूर्तियों में पौराणिक तन्त्रधर्म के प्रचार-प्रसार का इतिहास गुम्फित है। पुराणों के अंगन्यास, अष्टक, स्तात्र, पटल, कवच, स्तुति, कीलक, मन्त्र तन्त्र आदि में तन्त्रविद्या का बृहत् साहित्य प्रकाश में आया। अनेक मार्ग प्रशस्त हुए, वहाँ पुराने वैदिक देवताओं के

स्थान पर नये देवताओं की मध्ययुगीन भारत में पुराणों के प्रभाव से जहाँ भक्ति तथा साधना के धर्म-पन्थों को जन्म दिया, जिनमें देवताओं के साथ ही उनकी शक्ति-रूपा या भी स्थापना हुई। इन नये देवताओं और उनकी विभिन्नविध आराधना ने नये पत्नीरूपा शक्तियों की भी कल्पना की गयी। तन्त्र-दृष्टि से 'कूर्म पुराण' और 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में लकुल, वाम, भैरव, और पाँचरात्र आदि जादू-टोना, मारण-मोहन-उच्चाटन से तान्त्रिक विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। 'कूर्म पुराण' में कपाल संबंधित तान्त्रिक सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है, जिन्हें कि अवैदिक कहा गया।

इन तन्त्रप्रधान अवैदिक धर्मों का उदय वैदिक युग में ही हो चुका था, जिनको वैदिकों ने भी स्वीकार कर लिया था। अथर्ववेद में उनकी प्रतिक्रिया व्यापक रूप में परिलक्षित हुई है। भारतीय साहित्य पर तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रभाव निरन्तर बना रहा। 'महाभारत', 'देवी भागवत', 'वृहत्कथा' और महायान धर्म के बौद्ध ग्रन्थ 'सद्धर्म पुण्डरीक' तथा श्रृङ्गापारमिताश आदि विभिन्न ग्रन्थों में उसका प्रभाव व्याप्त है। बौद्धधर्म में महायान सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य नागार्जुन बौद्धतन्त्र के महान् विद्वान् थे। बुद्धि और कर्म से समन्वित होने के कारण तन्त्रवाद जितना वैज्ञानिक है, उतना ही व्यावहारिक भी है। आचार्य नागार्जुन में इन दोनों का समन्वय था। यही कारण है कि इतिहास में उनके विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व देखने को मिलते हैं, जिन्होंने कि उनकी वास्तविकता को भी भ्रमित कर दिया है। सांख्य, वेदान्त और नागार्जुन के तन्त्रवाद का अन्य समकालीन धर्मशाखाओं पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध धर्मों के अनुयायियों के अलग-अलग तन्त्रवाद प्रचलित हुए। ये तन्त्र-साहित्य का क्षेत्र और प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। सभी प्रकार के आगम-ग्रन्थों को तन्त्र कहा गया है। 'सम्मोहनतन्त्र' में

विभिन्न प्रकार के बाईस आगमों का उल्लेख हुआ है, जिनमें चीनागम, पाशुपत, पाँचरात्र कापालिक भैरव, अघोर, जैन और औद्धों की परिगणना की गयी है। किन्तु ये आगम अधिक प्राचीन नहीं हैं। प्राचीन आगम मुख्य रूप से तीन हैं—वैष्णव, शाक्त और शैव। वैष्णव आगमों का नाम है पाँचरात्र और वैखानस। शैवों के आगमों का नाम माहेश्वर तथा कापाल है। लकुल, भैरव, काश्मीर शैव आदि उनके अवान्तर भेद हैं। इसी प्रकार शाक्तों के भी केरल, काश्मीर और गौड आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। इन सभी सम्प्रदायों में अपने-अपने मत के अनुसार अलग-अलग उपासनाओं का विधान है। और स्त्री-पुरुष, दोनों को उसका उपासक अधिकारी माना गया है। पाशुपतमत और शैवमत एक ही है। पुराणों में पाशुपतमत के प्रवर्तक कालामुखी, कापालिकों और लकुलीशों आदि अनेक पन्थों का उल्लेख हुआ है। इन सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों का दसवीं शती तक पूर्ण विकास हो चुका था। इस मत के अनुयायी शिवोपासक है। कापालिक वाममार्गी हैं और उनमें नरबलि का प्रचलन था। नाथ और रसेश्वर सम्प्रदाय भी शैव-मतानुयायी थे। शिवोपासक शैवों की एक शाखा काश्मीर से उदित हुई, जिसके सिद्धान्त विशुद्ध तत्त्वविद्या पर आधारित है और जो अद्वैतवादी हैं। वैष्णव और शैव मत की तरह शाक्तमत भी प्राचीन है। किन्तु उसकी उन्नति का समय सातवीं से बारहवीं शती के बीच है। शाक्तमत, शैवमत से सर्वथा भिन्न और उपासना-पद्धति की दृष्टि से भी स्वतन्त्र है। तत्त्व-दृष्टि से वह अद्वैतवादी है।

'सम्मोहनतन्त्र' के अनुसार शक्ति और नारायण को एक ही बताया गया है। जो आदि नारायण हैं, वे ही परम शिव हैं और वे ही निर्गुण ब्रह्म हैं आद्या ललिता महाशक्ति ने ही श्रीकृष्ण और श्रीराम का पुरुष-विग्रह धारण किया था। इसलिए राम, शक्ति और शिव में कोई विभेद नहीं है। वैष्णव, शाक्त और शैव आगमों के अतिरिक्त बौद्धागम की भी स्वतन्त्र परम्परा है। बौद्धागम में तीन प्रकार के साधक बताये गये हैं—श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और सम्यक् बुद्ध। महायान ही तीनों का योगपथ है, जिसकी दो शाखाएँ हैं—पारमितानय और मन्त्रनय। इन दोनों शाखाओं के प्रवर्तक बुद्ध हैं। मन्त्रनय के तीन अवान्तर भेद हैं—वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान। पारमितानय का समस्त साहित्य संस्कृत में है, किन्तु मन्त्रनय का साहित्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं में है। वज्रयान तथा कालचक्रयान की साधना में मन्त्र का प्राधान्य होता है। सहजयान की साधना में मन्त्र का प्राधान्य नहीं होता। तान्त्रिक उपासना वस्तुतः शक्ति की उपासना है। बौद्ध दृष्टिकोण से प्रज्ञा ही शक्ति का स्वरूप है। इस प्रज्ञा के छह गुण हैं—ऐश्वर्य, समग्रत्व, रूप, यश, श्री, ज्ञान तथा अर्थवत्ता। वैष्णवों के चतुर्व्यूह प्रसंग में वासुदेव का षाड्गुण्य-विग्रह माना गया है। यही प्रकार बौद्धों के और शाक्तों तथा शैवों के आगमों में भी है। बौद्ध तान्त्रिकों की दृष्टि में मुद्रा का अभिप्राय शक्ति की अभिव्यक्ति या उसका बाह्यरूप है। मुद्रा के चार प्रकार कहे गये हैं—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्रा। देवता के प्रकट होने पर

उसका आवाहन करना होता है। व्यक्त अग्नि से जैसे दीपक नहीं जलाया जा सकता है, उसी कार अप्रकट देवता का आवाहन नहीं हो सकता है। इसी देव-आवाहन का साधन ही मुद्रा है। भेदवादी तान्त्रिकों के मत से शिव शक्ति और बिन्दु ये तीन तत्व हैं। ये तीन तत्व ही समस्त जगत् के अधिष्ठान हैं। इस जगत् का उपादान बिन्दु, कर्ता शिव और करण शक्ति है। बिन्दु का अपर नाम महामाया है। उसकी तीन अवस्थाएँ हैं—परा, सूक्ष्म और स्थूल परा अवस्था में महामाया को परा माया तथा कुण्डलिनी कहा गया है। वह परम और नित्य है। महानाया की सूक्ष्म और स्थूल अवस्थाएँ कार्य होने के कारण अनित्य हैं। महामाया की सूक्ष्म अवस्था का नाम माया है। वह कलादि तत्व-समूह का अविभक्त रूप है। आगमों में उसे जननी तथा मोहिनी कहा गया है। महामाया की स्थूल अवस्था का नाम प्रकृति है। वह त्रिगुणत्मिका है। बिन्दु की शब्दात्मिका वृत्ति के चार भेद हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। वैखरी श्रोत्रग्राह्या स्थूल शब्द शक्ति है। मध्यमा अन्तः संकल्प रूपावृत्ति है। पश्यन्ती अक्षर बिन्दु स्वयं प्रकाश वृत्ति है। परा वृत्ति परावाक् या नादरूपा है। परमेश्वर की यह स्वतन्त्र शक्ति है, जिसे चिद्रूपा कहा गया है। इस प्रकाशमय महामन्त्रात्मक परा वाक के गर्भ में 'अकार से क्षकार पर्यन्त समस्त शक्ति-चक्र निहित है। 'अ' से 'क्ष' तक के वर्णों में सब प्रकार का ज्ञान अधिष्ठित है। वर्णों से ही समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है। अज्ञातावस्था में वे बंधन का कारण, किन्तु सम्यक् ज्ञान से परा सिद्धि के कारण होते हैं। तन्त्र साधना का यही मूल आधार है।

सम्राट हर्ष के बाद भारत में जो राजनीतिक अस्थिरता व्याप्त हुई विभिन्न जातियों के संस्कारों से प्रभावित है, मध्ययुगीन भारत में नये धार्मिक जिसका इतिहास तत्कालीन हूणों, तुर्कों, अफगानों, राजपूतों और मुगलों आदि का सूचक है। इन विभिन्न जातियों के संस्कारों के फलस्वरूप धार्मिक अधकचरेपन की जो परस्पर विरोधी परम्पराएँ प्रकाश में आयीं, उन्हीं के परिणामस्वरूप तान्त्रिक तथा यौगिक नामक नये पन्थों का उदय हुआ। लगभग 11वीं, 12वीं शती तक इस प्रकार के अनेक नये धार्मिक पन्थ उभरते और विलुप्त होते गये। नाथपन्थ इसी प्रकार के बनते-बिगड़ते धर्मों का एक संगठन था, जिसमें शैव, शाक्त और बौद्ध आदि अनेक धर्मानुयायी सम्मिलित हुये तत्कालीन देशव्यापी राजनीतिक उथल-पुथल ने वर्गवाद और धार्मिक पक्षता को इतना अधिक उभार दिया था कि उसने सारे भारतीय समाज को दो वर्गों में विभाजित होने के लिए बाध्य किया। समाज का एक वर्ग हिन्दू धर्म के अन्तर्गत और दूसरा इस्लाम धर्म के अन्तर्गत संगठित हो गया। इस राजनीतिक संकट ने उन विभिन्न धर्म-पन्थों की जड़ें हिला दीं, जो मध्यमार्गी थे और अवसरवादिता का ढोंग रचे हुये थे। नाथपन्थ का जन्म इसी संक्रान्ति काल में हुआ। मत्स्येन्द्रनाथ उसके प्रवर्तक और गोरक्षनाथ या गोरखनाथ उसके संगठनकर्ता थे। उन्होंने योग द्वारा उपासना की नयी पद्धति का सूत्रपात किया। गोरखनाथ के मत से सहज जीवन-प्रणाली ही सर्वोच्च है।

भारत का प्रारंभिक लौह धातुकर्म

मिथिलेश यादव

भारत में ताम्र और कांस्य युग समृद्ध अनुभव प्रचुरता ने यहाँ उत्तर-वैदिककाल से लौह-युग का मार्ग प्रशस्त किया। लोहार और ताम्र धातुकर्मी दोनों की कला मूलतया भिन्न थी। ताँबे को बनाने के लिए प्रयुक्त भट्टियों में लोहे को तरल रखना सम्भव नहीं था। लोहे की ढलाई के लिए भी ताँबे की तुलना में कहीं अधिक ऊँचा ताप चाहिए। इसके लिए धौंकनियों की आवश्यकता रही होगी। प्रारम्भिक लौह-धातुकर्मी ने सुदीर्घ अनुभव से यह सीखा लौह अयस्क का अवकरण (चूर्ण) कुछ विशेष स्थितियों के संयोजन से ही सम्भव है। यही कारण है कि मेसोपोटामिया में तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. तनिक-सा परिवर्तन किये जाने पर लोहा बनाने का प्रक्रम नहीं चलाया जा सकता। यही कारण है कि मेसोपोटामिया में तीसरी सहस्राब्दी (2000 ई.पू.) में ही लोहा बनाने में मिली सफलता के बावजूद 1000 ई.पू. तक कोई बड़ी उपलब्धि न हो सकी। 1000 ई.पू. के लगभग फिलिस्तीन के हिली साम्राज्य के विघटन के फलस्वरूप वहाँ के कारीगरों के इधर-उधर जाने से लौह प्रौद्योगिकी विश्व के अन्य भागों में स्थापित हो सकी।

ऋग्वेद में लोहे के लिए प्रयुक्त 'अवस्' (काला धातु) शब्द जर्मन के 'आईसेन', अंग्रेजी के आइरन एवं फ्रेंच में आसिए (इस्पात) का आदि पूर्वज है। ऋग्वेद के जो विश्व का सबसे पुराना ज्ञानकोश है, चालीस सन्दर्भ में इसी 'अयम्' शब्द का प्रयोग हुआ है। अयस शब्द ऋग्वेद के जिन मंडलों में वर्णित है। उन मंडलों को विद्वानों ने उत्तर-वैदिककाल का बताया है। पुनः ऋग्वेद में वर्णित अयस् शब्द का अर्थ काली धातु मानना ज्यादा तार्किक होगा। अयस शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप में लोहा मानना मुश्किल है। ऋग्वेद में उल्लिखित अयस नामक धातु को अनेक विद्वान लोहा समझते हैं किन्तु वास्तविकता यही है कि कुषाण काल में अयस का अर्थ लोहा बताया जाने लगा। ऋग्वेद में अयस किसी भी धातु का बोधक था किन्तु लोहा का नहीं। यजुर्वेद में लौह-प्रगालक के लिए 'अयस्ताप' शब्द का प्रयोग हुआ है। घरेलू सामानों, बर्तनों तलवारों, उस्तरों, खेती के औजारों, हलों, कुल्हाड़ियों आदि के लिए लोहे के उपयोग के अलावा ऋग्वेद के मिश्रण वाले मंडल में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि अश्विनीकुमारों ने जो देवताओं के चिकित्सक थे, विशपला के लिए लोहे का कृत्रिम पैर बनाया था (ऋग्वेद 1.116.15)। वृक्षों को काटने के लिए उत्तर-वैदिककाल में सम्भवतः लोहे का प्रयोग होने लगा था। उत्तर वैदिक साहित्य में जो 'श्यामायस्' या 'कृष्णायस्' का उल्लेख हुआ है, वह अवश्य ही लोहे का पर्याय है। पुरातत्व से भी लोहे के उपयोग का प्रमाण मिलता है। उत्तर प्रदेश के दो प्राचीन स्थल-अत्रिखेड़ा और नोह से प्रचुर लौह-सामग्री मिली है। कुदाल एवं कुठार के अलावा यहाँ बर्चा तथा तीर के फाल भी मिले हैं। तीर कंटकाकार और

पत्राकार दोनों हैं। किसी-किसी स्थान में लौह-सामग्री 1000 ई.पू. से 900 ई.पू. की बनी है, यद्यपि अधिकांश सामानों का समय 800 ई.पू. से 750 ई.पू. तक अथवा कुछ बाद का है। लोहे की कुदाल और कुठार की सहायता से गंगा घाटी का घना जंगल साफ करना सरल रहाय अधिकांश लौह-निर्मित वस्तुएँ युद्ध के अस्त्र हैं। युद्ध में लौह का प्रयोग सम्भवतः उत्तर वैदिक युग के शासकों की शक्ति-निर्मित-वृद्धि का मार्ग प्रशस्त करनेवाला था। धातु का विशेषतः लोहे का व्यवहार बढ़ना निःसन्देह उन्नत कारीगरी में दक्षता का प्रमाण है। ई.पू. आठवीं शताब्दी से लौह तकनीक और नई श्रम व्यवस्थाओं से उत्पादन में हुई वृद्धि के फलस्वरूप पुरुष वर्ग का अधिकार बढ़ने लगा और स्त्रियों की स्वतंत्रता में कमी आती गई। गोत्र पिता के नाम पर चलने लगा। पारिवारिक प्रथा पितृमुखी हो गई। शिल्पकारों की सामाजिक एवं आर्थिक दशा बेहतर होने लगी। वैदिक काल में लोहे का प्रगलन करने वाले लोगों की विशेषज्ञ बिरादरी को 'मातृ' अथवा 'कर्मार' कहा जाता था। वेदांग ज्योतिष में लोहे को शनि ग्रह की धातु होने का विधान किया गया है।

महाभारत (सभापर्व) में अनेक स्थानों पर लोहे का उल्लेख मिलता है। पराक्रमी पांडव भीम की गदा लोहे की थी एवं अर्जुन ने लोहे की घूमती हुई मछली की तेल में छाया देखकर उसकी आँख में निशाना लगाकर द्रौपदी को राजा द्रुपद द्वारा आयोजित स्वयंवर सभा में प्राप्त किया था। रामायण में कई स्थानों पर लौह-उपकरणों की चर्चा है। ई.पू. 1000 और करीब 600 ई.पू. के दौरान लौह-प्रौद्योगिकी प्रारम्भिक अवस्था में थी। इस काल में पिटवाँ लोहे से छोटे-छोटे सामान बनाए जाते थे। शल्य चिकित्सा के अनेक उपकरण उत्तर-वैदिककाल में लोहे के बनाए जाते थे। लोहे का उपयोग, खास तौर से हथियारों के लिए। 800 ई.पू. के आसपास किया जाता था, यद्यपि तब इस धातु की गुणवत्ता निम्न कोटि की ही थी। बेहतर किस्म के लोहे का व्यवस्थित उपयोग बाद में प्रारम्भ हुआ, जब लोहे से बने औजारों, हथियारों तथा अन्य वस्तुओं की गुणवत्ता और परिमाण काफी बढ़ गया। अब लौह उत्पादों में विभिन्न प्रकार के औजार, बरतन, कीलें आदि भी शामिल थे और हथियारों में भी सुधार हुए। लोहा गलाने का काम ताँबा गलाने से मिलती-जुलती किसी प्रौद्योगिकी से ही आरम्भ हुआ होगा, लेकिन लोहे का कार्बरीकरण तकनीक से कठोर लोहा तैयार किया जाने लगा और ई.पू. 600 के बाद लोहे के प्रयोग में जैसा आत्मविश्वास दिखाई देने लगता, वह सहज ही ध्यान आकृष्ट कर लेता है। उत्तरी राजस्थान के जोधपुर में की गई खुदाई में कच्चे लोहे को गलाने और गढ़ने की भट्टियाँ मिली हैं। महाभारत के आरम्भिक पर्वों में लोहे को टंडा करने और ढालने के लिए धातु को गलाने के उल्लेख हुए हैं।

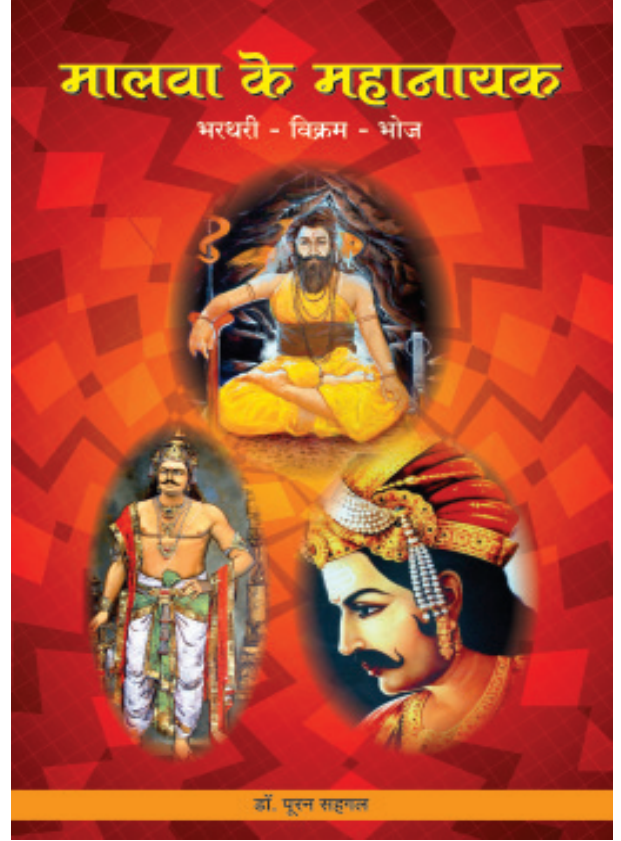
पुस्तक चर्चा/डॉ. प्रद्युम्न भट्ट

मालव माटी की सौंधी सुगंध हैं ये लोक गाथाएँ

लोक साहित्य में गाथा साहित्य की बहुत मान्यता मान्य है। गाथाकार एक घटना को कहानी में विकसित करता है फिर वह उसे गेय बनाकर गाथा में परिवर्तित कर देता है। डॉ. पूरन सहगल ने मालवा के महानायक भरथरी, विक्रम और भोज की तीन गाथाओं का अत्यंत श्रम पूर्वक संकलन किया है। विशेषकर महाराजा विक्रमादित्य और राजयोगी भरथरी की लोक पंजाबी में उपलब्ध कई कारणों से महत्वपूर्ण है। ये दोनों गाथाएँ जहाँ मालवा की सुवासित यश वाटिका की सुगंध को गगन मंडल में फैला देती है वहीं इनका दूरस्थ अंचलों में सृजित होकर मालवा के सपूतों और मालवा गुणगान करना हमारे लिए गौरव की बात है। यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि, चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद ऐसा कोई राजपुरुष नहीं हुआ जिसने अपने राज्य का इतना विस्तार किया हो। यह विस्तार केवल तलवार के बल पर नहीं हुआ था। उसमें तीनों महानायकों की रणकौशल की सूझ-बूझ और उसमें उनकी प्रजावत्सलता की यश विस्तारिता भी थी। भरथरी के राज्य के विषय में कहा गया है—महाराजा भरथरी मालव धरा पर यशस्वी नृपेन्द्र हुए हैं। सदियाँ बीत गई, लोक में जन आस्था का अमृत कलश महोत्सवों, सारस्वत आयोजनों व महाकुंभ के अवसर पर छलक गया।

प्राचीन भारत अध्येता ए. एल बाशम की थीसिस अद्भुत भारत के अनुसार अवंतिका का तदयुगीन समाज मुख्यतः चतुर्वर्ण व्यवस्था के ताने-बाने पर आधारित था जिसमें ब्राह्मण, शासक सेनापति वणिक, श्रेष्ठी, सार्थवाह, किसान, चरवाहे, कारु (कर्मकार) इन्हीं के साथ मंत्री, अमात्य, प्रतिवेदक व अन्याय राजपुरुषों का बोलबाला था। वैसे अन्त्यजनों व वनवासियों जैसे पुलिन्द व शबर आदि का उल्लेख भी तदयुगीन सामाजिक व्यवस्था में मिलता है। समाज में बौद्ध, शैव, वैष्णव, जैन, शाक्त आदि धर्मावलम्बी सौहार्द्रपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। भरथरी के राज्य में सभी प्रजाजन अपने कर्तव्य पथ पर आरूढ़ थे। महाराजा भरथरी को इतिहास के बजाय लोक ने ज्यादा गहनता से समझा है। महाराजा भरथरी का संपूर्ण जीवन अनसुलझी पहली के रूप में सामने आता है। उनके समग्र जीवन के प्रथमार्ध में उनका राजा बनना, विलासिता के पथ पर संलिप्त होना, पिंगला जैसी संभ्रात राजेश्वरी का सानिध्य, अन्य पिंगला नामक गणिका, राज्य कोटवाल (सेनापति) जनसाधारण के साथ संबंध तथा जीवन का उत्तरार्ध सतगुरु देव गोरखनाथ के मिलने के साथ एक त्यागी, वैरागी, मनस्वी संत, सिद्ध शैवोपासक के रूप में सामने आता है।

भरथरी ने मालवा में जिस सुराज की परम्परा स्थापित की और अपने पूर्वजों का गौरव अक्षुण्य बनाये रखा उसी गौरवशाली परम्परा को महाराजा विक्रमादित्य एवं महाराजा



भोज ने भी निरन्तर विस्तारित किया। बल्कि उसे और भी प्रजाकल्याणी स्वरूप प्रदान किया। हम यदि इन तीनों महानायकों के विषय में पृथक से भी चर्चा करेंगे तब भी यही आभास होगा। मालव धरा पर अपने तप, ज्ञान और विवेक से अपनी अमर कीर्ति लता को अभिसिंचित कर तपस्वी, मनस्वी और यशस्वी जीवन के धनी महाराजा भर्तृहरि की यशगाथाएँ लोक में पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, गुजरात, उत्कल और दक्षिण में अंतिम छोर तक सहस्राब्दियों के बाद भी आदर व श्रद्धा के साथ सभी जाति, धर्म व वर्ग के श्रद्धालुओं द्वारा गाई जाती है। जब-जब महान न्याय विद प्रजावत्सल परमवीर सम्राट विक्रमादित्य का स्मरण किया जाता है, वहीं उनके अग्रज महाराज भर्तृहरि का स्मरण सहज हो आता है। मालवा भूमि की ऊर्जस्विता और तेजस्विता इतनी अद्भुत है कि, उसका न तो ठीक से वर्णन किया जा सकता है और न ही मूल्यांकन। डॉ. पूरन सहगल द्वारा रचित 'मालवा के महानायक' पुस्तक को महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मप्र शासन द्वारा प्रकाशित किया है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.